Chap-7

सप्तम् अध्याय

सांस्कृतिक पहचान

संस्कृति से सरोकार :

कोई भी राष्ट्र अपनी किन्हीं विशिष्टताओं के कारण ही विश्व-समुदाय में अपनी पहचान स्थापित करता है । भारतवर्ष मानवीय चिन्तनधारा और जीवन विषयक सर्वतोन्मुखी उदात्त दृष्टिकोण के कारण एक विशेष जीवन-पद्धति का अविष्कर्ता और प्रवक्ता रहा है । राष्ट्रीय जीवन की लम्बी अवधि में उसने जो सांस्कृतिक चेतना अर्जित की है, वह मानवता की उच्च मनोभूमि और विकासोन्मुख सामाजिक सभ्यता की कहानी है । अनेक विदेशी आक्रमणों ने भौतिक दृष्टि से उसे जितना झिंझोड़ा, जीवन-पद्धति और दृष्टिकोण से स्तर पर अपने जीवन-मूल्यों का परीक्षण कर उसने स्वतः को उतना ही गतिशील बनाये रखा है । भारतीय सन्दर्भ में 'संस्कृति' का विशेष महत्व है, क्योंकि इस विशाल राष्ट्र की एकता के सूत्र राजनीतिक प्रभुत्व या दबाव से अधिक सांस्कृतिक स्तर पर नियोजित हैं । और इस संस्कृति का प्रवाह हमारी काव्य-परम्परा में सतत वर्तमान है । मार्क्सवादी समीक्षक, डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं - "यहां राष्ट्रीयता... मुख्यतः संस्कृति और इतिहास की देन है । इस संस्कृति के निर्माण में इस देश के कवियों का सर्वोच्च स्थान है । इस देश की संस्कृति से रामायण और महाभारत को अलग कर दें तो भारतीय साहित्य की आन्तरिक एकता टूट जायेगी ।"[१] डॉ. शर्मा ने भारत जैसे बहुजातीय राष्ट्र के सामाजिक विकास में कवियों की भूमिका को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है ।

'नवगीत' एक विशेष कालावधि में उस समय की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक सन्दर्भों में जन्मी हुई काव्य-विधा है । सन् १९५० के बाद हम अपनी अस्मिता की पहचान के लिए सक्रिय होकर अपनी संस्कृति का आंकलन करके, उसको नवीन सन्दर्भों में प्रतिष्ठित कर रहे थे । नये सामाजिक मूल्यों की अवधारणा को विकसित करना चाह रहे थे । देश का आर्थिक ढाँचा खड़ा करना

चाह रहे थे और नये राजनीतिक वातावरण के अनुकूल अपने को ढालना चाह रहे थे, तब नवगीत का जन्म हुआ। नयी कविता का भी जन्म इसी समय हुआ था, लेकिन उसमें अन्तर्राष्ट्रीय आधुनिकता की प्रबलता थी। जातीयता की धारा आधुनिकता के सामने दब सी रही थी। लेकिन नवगीत में अपनी जाति की पूरी की पूरी अस्मिता को पहचान कर उसे प्रतिष्ठित करने की आतुरता थी। वह लोक-सन्दर्भों, आदिवासियों के जीवन, मध्यमवर्गीय चेतना, जन-सामान्य की संवेदना, उनकी रागात्मकता, उनकी लयात्मकता, सौन्दर्य-बोध और भाषिक-संरचना के अधिक निकट था। दूसरी ओर उसमें युग की चेतना को पहचानने की शक्ति थी, इसलिए नवगीत विशेष परिस्थितियों की उपज, जातीय अस्मिता की पहचान और युगीन सन्दर्भों की रागपरक रचना है। पारम्परिक गीतों की लय को भी उसने लोकधुनों अथवा युग की नयी चेतना के अनुरूप ढाला।

नवगीत में भारतीय संस्कारों की प्रतिष्ठा आकस्मिक तौर पर नहीं हुई है, यह अवश्य है कि युगीन दबावों ने उन्हें अनजाने ही संस्कारों के प्रति अधिक सजग रचनाशील बनाया हो। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि, गुलामी की बेड़ियों को काट फेंकने के लिए मैथिलीशरण गुप्त - 'हम कौन थे, क्या हो गये हैं', जयशंकर प्रसाद - 'जगे हम, लगे जगाने विश्व', महादेवी - 'चिर सजग आंखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना', और निराला - 'जागो फिर एक बार' में सांस्कृतिक जन-जागरण का ही मन्त्र फूंक रहे थे। पन्त जी की दृष्टि में तो तात्कालिक युग-यथार्थ की समस्या ही सांस्कृतिक भाव-बोध के अभाव से पैदा हुई है। नवगीत में सांस्कृतिक चेतना की अनगिनत उर्मियां प्रवाहमान हैं। यद्यपि नवगीतकारों की मान्यता है कि 'संस्कृति' स्थूल रूप में जीवनोपयोगी करती है। वह किसी जाति-समूह की सोच, उसके विकास व दृष्टिकोण को नियोजित करने और उसे धार देने की आन का कार्य करती है। वह भाषा की ही तरह मनुष्य द्वारा अर्जित चेतना-अनुषंग है - "सामाजिक यथार्थ की चुनौतियों को समझते हुए मनुष्य पर गहन आस्था रखनेवाले साहित्यधर्मी संस्कृति की महत्ता से न केवल विज्ञ हैं, वरन वे उसे काव्य का मूलाधार भी मानते हैं।"[२] अपने राष्ट्र की सांस्कृतिक परम्परा पर गर्व करने वाले मार्क्सवादी समीक्षक 'रैल्फ फॉक्स' राष्ट्र संस्कृति को ज्ञान-प्रयोग की अनिवार्य शर्त मानते हैं - "लेखक को इस योग्य होना चाहिये कि वह अपने राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत का उपयोग कर सके।.... संस्कृति एक ऐसी चीज है जिसे हमें जीवन के अमल को गहरा बनाने के काम में लाना है।"[३]

नवगीत को लोक-संवेदना को यदि जातीय स्मृतियों, संस्कारों का रचना-संसार कहा जाय तो अतिरंजना न होगी, क्योंकि भारतीय जन के बाह्य परिवेश में हुए तीव्र बदलाव के परिणाम स्वरूप व्यक्ति की आन्तरिक टूटन और चिरपरिचित वस्तुलोक से बिछुड़ने का विवश संत्रास नवगीत में ही अभिव्यक्त हुआ है। नवगीत काव्य से गुजरते हुए यह अनुभूति बराबर बनी रहती है कि रचनाकार को एक भरी पूरी दुनिया खोने की अत्यधिक वेदना है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि, जो था, वह केवल सुख और वैभव का लोक था; आर्थिक यंत्रणाएं तब भी थीं। किन्तु तमाम सांसारिक, भौतिक आपदाओं और संघर्षों के बावजूद मानवीय सम्बन्धों की रस भरी अन्तःसलिला भी थी और व्यक्ति केन्द्रित आस्था युक्त मन थी। आज विज्ञान ने धर्म का स्थान ले लिया है, शान्ति और स्थिरता की जगह आन्तरिक व्यग्रता और बेचैनी है, आपाधापी है। गुलाम राष्ट्र स्थिर और निरूद्वेग रह भी कैसे सकता था ?

परिवर्तन तो जाति, समाज और राष्ट्र के विकास का सूचक है । नवगीतकार इस अर्थ में प्रतिगामी नहीं है । नवगीत में जातीय स्मृतियों की संरचना आधुनिक जीवन की प्रेरणा, गति और नये संकल्पों के लिए है, जीवन - मूल्यों के लिए सचेत और प्रतिबद्ध रहने के लिए है और भौतिक लालसाओं में स्वयं को खपा देने की जगह आन्तरिक स्मृद्धि को पालने के लिए भी है -

"मैं न रुकूं संग्रह के घर में
धार रहे मेरे तेवर में
मेरा वदन काट कर नहरें
ले जायें पानी ऊसर में
जहाँ कहीं हो
बंजरपन का मरना मुझमें हो ।"[४]

भारतीय संस्कारों के सम्बन्ध में कवि का सहसा स्मरण स्वाभाविक है । नदी की आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से अपरिग्रह, त्याग और सार्वजनिक हित के लिए आत्मोत्सर्ग का जो भाव व्यक्त हुआ है, वह अपने विश्लेषण के लिए किसी सिद्धान्तशास्त्र की अपेक्षा नहीं रखता । वर्तमान परिवेश से सन्त्रस्त कवि-मन अतीत को याद करते हुए कहता है -

"जंग लग गईं श्रुतियाँ, सब
अधमरी ऋचाएँ
ओ मेरे गीत बता
अब हम क्या गायें ।
सारा माहौल यहाँ
घुटन से भरा है
घर - आँगन
जहरीली गैस से पुरा है ।
सन्नाटा करता
अज्ञात प्रतिक्रियायें ।
तारकोल की सड़कें
मंजिल के वादे ।
ताकतवर पांवों के
नासमझ इरादे ।
दिन विधुरों के विराग
रातें विधवाएँ ।"[५]

कवि संस्कृति का मात्र गायक नहीं होता, उसका वह सर्जनहार भी होता है । नये युग के अनुकूल संस्कृति-बोध की पीठि का वह नवीन मानव-मूल्यों का उद्गाथा एवम् प्रवक्ता होता है । इसी कारण उसकी भूमिका एक इतिहासकार, राजनीतिज्ञ व मनोविश्लेषण से ज्यादा महत्वपूर्ण होती है । शब्द-शिल्पी

होने मात्र से वह सर्जक नहीं है, सामाजिक यथार्थ की विकृतियों, विसंगतियों और रूढ़ियों के अंधेरे में सामूहिक मुक्ति के लिए मूल्यों की उद्घोषणा करता हुआ कविता की मशाल लिये वह अग्रसर होता है । नवगीतकार वीरेन्द्र मिश्र की यह सहज आकांक्षा गौरतलब है, जिसमें हजारों वर्षों से पददलित, शोषित समाज के एक वर्ग को उसका समुचित गौरव प्रदान किये जाने का आह्वान किया गया है

"पूजनीयों को भले पूजक नया हूँ
प्यार प्रतिमा का मुझे भी तो मिले
वर्ण-भेदों में नहीं सीमित रहा जो
दान गरिमा का मुझे भी तो मिले
कह रहा है द्वार का हर एक हरिजन ।"[६]

वस्तुतः नवगीतकार जिस परिवेश में जीवन व्यतीत करता है, उसके प्रति सचेतन आस्था ने ही वह दृष्टि दी है जिसके कारण वे पलभर के लिए भी संस्कारच्युत नहीं होते और काव्यभिव्यक्ति में वे संस्कार अनायास ही प्रकट हो जाते हैं -

"रह गया पीछे
नगर-घर-द्वार
सब कुछ रह गया पीछे ।
भाई साहब का थका चेहरा
और अम्मा की भरी आँखें,
और भाभी की नरम बोली
और पप्पू की उठी बांहें,
रह गया पीछे
तीज-तिथि-त्योहार
सब कुछ रह गया पीछे ।
और वह गोरी इकहरी देह
और वे लाजों भरी बातें,
आह बरबस याद आती हैं
सिसकियों में डूबतीं रातें,
रह गया पीछे
एक अनगढ़ स्वप्न का आकार
सब कुछ रह गया पीछे ।"[७]

नवगीत के पक्ष में इसका एक सुखद परिणाम यह रहा कि, लोक-मन को ये अभिव्यक्तियाँ सर्वथा चिर-परिचित, जानी-पहचानी-सी लगीं । नवगीत साहित्य में संस्कारों की अनुगूँज एक प्रकार से लोकमानस की प्रतिच्छवियों का अंकन है । जातीय स्मृतियों को संजोने या संस्कारों को उकेरने का प्रयत्न यहाँ सप्रयास नहीं है । सांस्कृतिक रेखांकन तो प्रायः अधिकांश नवगीतकारों ने किया है वस्तु के अनुरूप

शब्दावली रचनेवालों में उमाकान्त मालवीय सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं जिनके नवगीत का समवेत स्वर तद्नुरूप शब्दावली में जातीय स्मृतियों और संस्कृति के मानदण्डों का सन्तृप्त मुखर-लोक है -

"दिन-दिन अंगिया छोटी पड़ती
गदराये तरुणाई
पोर-पोर चटखे मादकता
लहराये अंगड़ाई,
दोनों तट प्रियतम शान्तनु की फेर रही दो बहियाँ ।
छूट गया मायका बर्फ का, बाबुल की अंगनइयां ।
भूखा कहीं देवव्रत टेरे
दूध भरी है छाती,
दौड़ पड़ी ममता की मारी
तजकर संग-संघाती,
गंगा नित्य रंभाती फिरती जैसे कपिला गइया ।
सारा देश क्षुधातुर बेटा, वत्सल गंगा मइया ।"[८]

उमाकान्त मालवीय की रचनाएं हमारी संस्कृति की ऋचाएं हैं, किन्तु ये ऋचाएं भावों की सघनता में रसोद्रेक करने की क्षमता से युक्त हैं । नवगीत के इस पहलू को सार्थक अभिव्यक्ति देने में उमाकान्त मालवीय का अत्यधिक योगदान रहा है । उनकी रचनाओं में जातीय संस्कार-बोध की प्रखर अनुभूतियाँ मिलती हैं । इस दृष्टि से वे काव्य में भारतीय सांस्कृतिक चेतना के उद्दाम गायक हैं । उनकी रचनाओं में मानवीय सम्बन्धों, सामाजिक आचार-व्यवहार, लोकोत्सवों एवम् परिपाटियों के जैसे चित्र मिलते हैं, वे राष्ट्रीय-सांस्कृतिक छवि की मनोरम और सचेत छवि उकेरते हैं । नवगीत में जिस तरह जन-साधारण व समाज की प्रतिष्ठा तथा अंचल का सजीव चित्रण उसके लोकबोध का प्रमाण है, ठीक उसी तरह पौराणिक प्रसंगो, ऐतिहासिक सन्दर्भों, इतिवृत्तों, लोक-आचारों, प्रणय व उल्लास की अभिव्यक्ति एवं श्रेष्ठ परम्पराओं का निदर्शन जातीय संस्कार-बोध का परिचायक है ।

भारतीय जातीय संस्कृति का एक प्रबल पक्ष उसकी सामाजिकता है औरर नवगीतकार श्रृंगार के उल्लसित क्षणों व प्रणय की अभिव्यक्ति करते हुए भी सामाजिकता से कटे नहीं हैं । उनकी पंक्ति-पंक्ति में, एकान्त क्षणों में पारिवारिक सम्बन्ध अनुस्यूत मिलते हैं । माँ, बहन, पत्नी, प्रेयसी, पड़ोसी सभी के प्रति एक-सी आत्मीयता विद्यमान है । यह रचनात्मकता एक विशिष्ट और उल्लेखनीय पहलू है । सामाजिक आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, मूल्य और आदर्श सांस्कृतिक संरचना के हेतु हैं । वे ही हमारे जातीय संस्कार हैं, जिनसे सामाजिक मर्यादा, अनुशासन व मूल्य पुष्ट होते हैं । पौराणिक एवम् सांस्कृतिक शब्दावली की अनुगूँज देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', सोमठाकुर, शम्भुनाथसिंह, नईम, ओमप्रभाकर, गुलाबसिंह, विष्णु विराट, माहेश्वर तिवारी, उमाशंकर तिवारी, अनूप अशेष, शीलेन्द्र सिंह, राम सेंगर, दिनेश सिंह तथा महेश अनघ आदि की रचनाओं में भी सुनायी पड़ती है किन्तु इनके यहाँ इस शब्दावली का प्रयोग आधुनिक युग-बोध को गम्भीरता से उभारने और उसे मूर्त रूप देने की चेष्टा में हुआ है ।

नवगीत में जातीय-बोध का रचना-विन्यास वर्तान युग को मूल्यहीन, अनास्था, अराजकता और निषेधवादी दौर में विशिष्ट महत्व रखता है । 'संस्कार-बोध' व्यक्ति को अपनी जमीन से जुड़े रहकर रसानन्द लेने तथा आस्था एवम् गतिशील जीवन के उत्प्रेरण का स्त्रोत है ।

नवगीत में जहां तक सांस्कृतिक परिदृश्यों को उभारने का प्रश्न है, वहाँ मुख्यतः नवगीत कवियों ने परम्परित उन सांस्कृतिक धरोहरों को बार-बार उकेरने का प्रयत्न किया है, जो या तो आंचलिक परिवेश में अंशतः प्रचलित है अथवा जिनके भग्नावशेष नगरीय सभ्यता में संक्षिप्त रूप से विद्यमान है । संस्कृति का लोकाभिमुख रूप अधिकतर सामाजिक संस्कारों से जुड़ा हुआ है । यहाँ यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि नवगीतकार खासकर हिन्दू-संस्कृति का ही पक्षधर या चितेरा रहा है । बामन, मोची, भंगी, चमार, बनिया, पुजारी, पंडा, मठाधीश, पुरोहित, ठाकुर, चौधरी, सेठ, राजा, जमींदार जैसे शब्द हिन्दू संस्कृति को ही संज्ञायित करते हैं । इनमें मौलवी, मुल्ला, हाफ़िज, हाजी, काजी, जुलाहा, नमाजी, काफ़िर जैसे शब्दों को अधिक स्पर्श नहीं किया गया है, इसका प्रमुख कारण है - गीतकारों का एक मान्य चौखटे में निबद्ध रहना । जहां विषय व कथ्य में नवीनता है, छन्द में मौलिकता है किन्तु सांस्कृतिक परिवेश का सांकीर्ण्य एक योजना बद्ध रूप से स्वीकार्य होता रहा है, अब ये कहना तो बेमानी होगा कि नवगीतकारों में प्रमुख हस्ताक्षर हिन्दू संस्कृति का व्यापक और प्रत्यक्ष अभाव इन नवगीतों पर पड़ा है क्योंकि अनेक मुस्लिम सशक्त नवगीत हस्ताक्षरों ने इस क्षेत्र में अपनी प्रभावक भूमिका प्रदान की हैं जैसे - बिंदिया, मेंहदी, मांग, सिन्दूर, बिछुआ, करधनी, मंगलसूत्र, पहुंची, बाजूबन्द, बेना, अंगिया, फरिया जैसे अनेक साज-सज्जा और प्रसाधन के नाम नवगीतों में जुड़े हैं, जो विशेष रूप से हिन्दू संस्कृति के हामी हैं । किसन सरोज लिखते हैं -

"धर गये मेंहदी रचे दो हाथ
जल में दीप
जन्म-जन्मों ताल-सा हिलता रहा मन
बाँचते हम रह गये अन्तर्कथा
स्वर्णकेशा गीत-वधुओं की व्यथा
ले गया चुनकर कमल
कोई हठी युवराज
देर तक शैवाल-सा हिलता रहा मन ।"[१]

या फिर नवगीत-कवि श्याम सुन्दर दुबे की निम्न नवगीत - पंक्तियाँ देखें -

"रात चंदरमा
चिठिया बांचे
लहर-लहर आखर जरतारी ।
फागुन जोग लिखी !
हलदी बरन
चांदनी हो गयी
पूरे सोलह साल,

अबकी बरस
करेंगे गौना
बस्ती भर का ख्याल,
मलै पराग
देह पर उबटन
जगर-मगर फैली उजियारी ।
फागुन जोग लिखी !"[१०]

प्रेम तिवारी के नवगीतों में भी ऐसे दृश्य दिखाई देते हैं -

"जागे-जागे
सपने भागे
आंचल भर बरसात ।
मैं होती हूँ
तुम होते हो
सारी-सारी रात ।...
हल्दी के
सपने आते हैं
ननदी को दिन-रैन,
हमें पता है
सोलह में
मन होता है बेचैन,
कोई अच्छा-सा घर देखो
ले आओ बारात ।"[११]

उपर्युक्त कथ्यों में समाविष्ट सांस्कृतिक परिदृश्य हिन्दू संस्कृति के व्यावहारिक परिवेश को परम्परा से ही स्वीकार करते चले आये हैं । जिस तरह हिन्दी - उपन्यास में मुंशी प्रेमचन्द ने भारतीय ग्राम्य-परिवेश का चित्रांकन करते हुए मुख्य रूप से उत्तर-भारतीय गाँवों को ही भारतीय गाँवों का केन्द्र या आदर्श मान लिया गया था, जबकि आसाम, बंगाल, उड़ीसा, मिजोरम, मणीपुर, तमिलनाडु, केरल, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश आदि अंचलों की ग्राम्य-संस्कृति, उत्तर भारतीय ग्राम्य-संस्कृति से सर्वथा इतर है, किन्तु मुन्शी प्रेमचन्द उत्तर भारत के प्रतिनिधि साहित्यकार थे, तथा उनका अधिकांश पाठक-वर्ग भी उत्तर-भारतीय ही था । इसलिए मुन्शी प्रेमचन्द को भारतीय ग्राम्य-संस्कृति का प्रतिनिधि कथाकार स्वीकार कर लिया गया । इसी प्रकार नवगीतकारों में चाहे शलम श्रीराम हों अथवा सत्य नारायण, नईम, कुंवर बेचैन, उमाकान्त मालवीय, सोम ठाकुर, माहेश्वर तिवारी, अनूप अशेष, बुद्धिनाथ मिश्र, किसन सरोज, दिनेश सिंह, रवीन्द्र भ्रमर या फिर गुलाब सिंह हों - अधिकांश ने यही उत्तर भारतीय हिन्दू संस्कृति के लोकाभिमुख प्रचलित रूप को ही अवगाहित किया है ।

नवगीतकार को उसका संस्कार उसे गांवों की ओर खींचकर ले गया है । इनमें ग्राम्य-संस्कृति से सम्पृक्त ऐसी शब्दावली है जो अधिकांश नवगीतों में देखी जा सकती है । खेत-खलिहान, चूल्हा-चौका, बाखर, बखार, बाड़ा, चौपाल, ठाकुर, जमीनदार, पटवारी, पगडण्डी, टपरा, कुआं, जगत, पोखरा, तलैया, नीम, बरगद, पीपल, चबुतरा, इमली, गाय-बैल, भैंस, बकरी, कुत्ता, घोड़ा, गधा, सूअर, टेसू, बेहया, छुईमुई, कनेर, गुलाब, गुड़हल, चम्पा, जुही, केतकी, खादर, खाईं, बँसवारी, बगीचा, बंटवारा, देवर-भाभी, ननद, भौजाई, जेठ, मेहरारू, चाची, भाई, ताऊ, दद्दा, काका, दादी, बाबा, फुफ्फा, मामा, मामी, अम्मा, दीगर, साहूकार, दुश्मन, तेली, हिस्सा, चक्की चकबन्दी, उज्जर-बाजर, उपजाऊ, ईख, धान, गेहूँ, सरसों-तीसी, मन्टर, तरकारी, रोटी, भात-दाल, पाला, ठंडी-गरमी आदि अनगिनत शब्द हैं जो खासकर ग्रामीण संस्कृति को गीतांकित करने में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करते हैं । इस सन्दर्भ में कुछ नवगीत-खण्ड द्रष्टव्य हैं -

"माँ की बात छेड़ दी मन ने
सुधि आयी तब गाँव की,
बातें खूब हुआ करती थीं
जलती आग-अलाव की ॥...
कहां गया घूरे का महुआ
पीपल का वह देवस्थान ?
वह बरगद छतनार कहां है
छाया जिसकी सुखद महान
कुआं-ताल अब भी हैं लेकिन
पनघट सूना-सूना है,
कहां गये वे झाड़ी-जंगल
चरवाहों की वंशी तान ?
लहर ढूँढ़ती
नदी-किनारे आहट
राधा पांव की ।"[१२]

०० ०० ०० ०० ०० ००

"ताल-तलैया लिये जीवनी गंगा
धान-सा पका किसान
गेहूं - सा कटा किसान ।
दो खेपों में खपता उड़ता
जैस खर-पतवार
पूरी बारिश धूप ओढ़कर
करे नौ-तपा पार
अगला साल आँख में भरकर

घर में खटा किसान ।"[१३]
०० ०० ०० ००

"कई दिनों के बाद
आज फिर सूरज निकला है ।
केश सुखाती वस्त्र बदलकर
ओस नहायी दूब,
ठण्डा कुहरा उतर शिखर से
गया ताल में डूब,
शंखमुखी अजगर ने
चुप्पी का बन निगला है ।
किरने कात रहीं मेघों की
रोंयेदार रुई,
सरसों, धान, ईख बतियाते
रस की धार चुई,
हिम प्रदेश में जमा
मौन का पर्वत पिघला है ।"[१४]
०० ०० ०० ००

आज जरा-सा पानी बरसा
जाग उठी आवाज नदी में ।
बोली नाव, किनारे बोले
लहरों के इकतारे बोले
झाँझर, गागर बोली
जो भी थे वे सारे बोले
पानी ने जब छुआ, बज उठे
तरह-तरह के साज नदी में ।
०० ०० ००

नाचे मोर, पपिहरे बोले
मौन मछलियों ने मुँह खोले
सीपी हँसी, शंख भी गूँजे
पेड़-पेड़ पर पड़े हिंडोले
लहर-लहर में दीखी सबको
चिड़ियों की परवाज़ नदी में ।"[१५]

"कवि लोकधर्मी होता है । जब भी वह लीक से हटकर बौद्धिक क्षितिज में उड़ान भरता है, तो ज़मीन से कटकर 'अपनों' से दूर हो जाता है । नवगीत ज़मीन से भी जुड़ा है और 'अपनों'

के बहुत करीब भी है । डॉ. विष्णु विराट के शब्दों में - "नवगीत में वैसे तो वर्ण्य का कोई निश्चित निर्धारण नहीं है, फिर भी सामान्य आदमी की सहज दैनन्दिनी के इर्द-गिर्द यह नवगीत घूँमता है । कभी खेत-खलिहानों में, कभी मन्दिर-मस्जिद में, कभी पंच-पंचायत में, हाट-बाजार में, गली-चौराहे पर, घर-आंगन, झुग्गी-झोपड़ी, शहर-कस्बों, टोलों-मुहल्लों में, माँ-बहन, भाई, भौजाई, चूल्हा, चक्की, बनिया, बामन, भंगी-चमार-तेली-धोबी-नाई, मजदूरी, नौकरी, बेकारी, दासता-गुलामी, दमन-संत्रास, शोषित-मध्यमवर्ग-सर्वहारा-आक्रोश, आक्रान्त, क्रान्ति, भय-राजनीति-समाज-घर-गृहस्थी, पति-पत्नी और तमाम पड़ावों पर कानाफूसी करता वह नवगीत हमारे इर्द-गिर्द अपने वर्ण्य तलाश करता रहता है ।

वर्ण्य की दृष्टि से नवगीत दो भागों में विभाजित है - ग्राम्य परिवेश तथा नगर-परिवेश । ग्राम्य परिवेश में किसान-मजदूरों की रोजमर्रा की व्यथा, आत्म द्वन्द्व, सतत संघर्ष में क्षत-विक्षत अस्तित्व की तलाश में भटकता आदमी और व्यवस्था के कहर को रेखांकित किया गया है, तो नगर-परिवेश में थका-मांदा गृहस्थ, मंहगाई, बेरोजगारी, आतंक, राजनीतिक भ्रष्टाचार, शोषण, संत्रास, दमन, षड्यन्त्र का शिकार आदमी कक्ष-दर-कक्ष व्यवस्था का मुहरा बनकर इधर-उधर भयाक्रान्त घूँमता दृष्टिगोचर होता है ।

वर्ण्य की दृष्टि से नवगीतों का सांस्कृतिक परिवेश और मानवीय संवेदनाओं का आंकलन विशेष ध्यातव्य है, जहां माटी की महक है, आत्मीय सम्बन्धों की सुगन्ध है, ग्राम्य संस्कृति का सम्मोहन है, घर और अपने लोगों की विशिष्ट पहचान है, यथा -

चिट्ठियां लिखवा रहा है गाँव
अब घर लौट आओ ! (माहेश्वर तिवारी)

या फिर- **परियों के देश में न जाना युवराज ! तुम**
जाकर फिर लौट नहीं पाओगे
पथराकर बेघर हो जाओगे ! (सोमठाकुर)

आशंकाओं और अव्यवस्थाओं के दौर में राम दरश मिश्र लिखते हैं :-

दिन डूबा अब घर जाएंगे !"[१६]

सांस्कृतिक पहचान को किसी एक निश्चित जगह पर स्थापित करने के प्रयास में नवगीतकार अपने ग्राम्य-दृश्यों का सम्मोहन तो नहीं छोड़ पाया, किन्तु बार-बार शहर की खंडित आस्थाओं और व्यवस्था की असह्य अनुक्तियों से ऊब कर वह ग्राम्याभिमुख होता रहा है । अधिकांश नवगीतकारों ने नगर-सभ्यता का निषेध ही किया है, उसे नकारात्मक दृष्टि से देखा है । कहीं भी शहरी सभ्यता के प्रति उसका स्वीकारात्मक स्वर उभर कर सामने नहीं आया । अरविन्द सोरल लिखते हैं -

"यह शहर अब बड़ा हो गया है ।
घर के झगड़ों से पहले डरे था
कैसे घुट-घुट के रोया करे था
अब मुहल्लों को जलते हुए भी

बस्तियों को कुचलते हुए भी
देखकर उफ भी करता नहीं है
हाथ छाती पे धरता नहीं है
इसका जिगरा कड़ा हो गया है
यह शहर अब बड़ा हो गया है ।"[१७]

डॉ. विनोद निगम लिखते हैं -

"खुलकर चलते डर लगता है,
बातें करते डर लगता है, क्योंकि शहर छोटा है ।
ऊंचे हैं, लेकिन खजूर से, मुँह है इसीलिए कहते हैं,
जहाँ बुराई फूले-पनपे, वहाँ तटस्थ बने रहते हैं ।
नियम और सिद्धान्त, बहुत ढंगों से परिभाषित होते हैं,
यहाँ बोलना ठीक नहीं है,
कान खोलना ठीक नहीं है, क्योंकि शहर छोटा है ।"[१८]

डॉ. विष्णु विराट लिखते हैं :-

"घुट रहा है इस शहर में दम
चलो घर लौट जाएं
दर्द का एहसास तो हरदम
चलो घर लौट जाएं ।"[१९]

रमेश गौतम ने ग्राम्य और शहर की एक निम्न संस्कृति को मिथक के माध्यम से कुरेदने का प्रयत्न किया है -

"स्वप्न में अल्कापुरी के
नागरिक जब भी बने
जागते ही
शब्द बेधी बाण
सीनों पर तने
बन्द होठों पर
धरे कुरूक्षेत्र
स्वयं से लड़ते हुए
हर युद्ध हारे ।"[२०]

नवगीतों में जहां-जहां सांस्कृतिक परिदृश्यों को गीतांकित किया गया है, वहां-वहां संवेदना के स्तर पर अनुभूत तथ्य भी उद्दाम वेग से विचारों को आन्दोलित करते रहे हैं । सामाजिक और पारिवारिक

परिदृश्यों में घटना चाहे बेटी के ब्याह की हो, दहेज की हो, वैधव्य की हो, मरण की हो या किसी दर्दनाक हादशे की, नवगीतों में बड़े ही सहज एवं संवेदनशील ढंग से दृश्यांकित हुईं हैं । नवगीत में कथ्य बड़े ही प्रभावक भूमिका के साथ चढ़ते-उतरते रहे हैं । अर्थाभाव, दरिद्रता, निर्धनता, गरीबी जैसे शब्द जब आम कहे जाने वाले व्यक्ति को सर्वहारा वर्ग से जोड़ देते हैं तो स्वयं के वजूद की तलाश करता हुआ, थका-हारा और टूटा हुआ आदमी पुनः अपने उसी पूर्व-निर्मित नीड़ और कुटीर में घुसकर अपने इर्द-गिर्द आश्वस्त के क्षणों की तलाश करने लगता है ।

नवगीत की एक विशिष्ट पहचान यह भी रही है कि, इसमें हर्ष की अपेक्षा विषाद् के कथ्य अधिक प्रयुक्त हुए हैं । परिदृश्य भले ही संस्कृति का हो, धर्म का हो, परिवार का हो या आचरण का, सभी जगह नवगीत का नायक गरीबी रेखा के आस-पास भटकता हुआ अपने आपको नितान्त असुरक्षित महसूस करता है । और इसीलिए नवगीतकार दमित, शोषित, संत्रस्त, हारा, थका, टूटा, पिछड़ा, सर्वहारा, असहाय आदि सम्बोधनों से इंगित करता है । जब नवगीतकार किसी ऐसे नायक की सृष्टि करता है, जो शहर में जीवन-यापन कर रहा है, उसके लिए वह जेहाद, क्रान्ति, आन्दोलन, बगावत, पलायन जैसे शब्दों का प्रयोग करता है जो उसके वजूद को एक पूर्वनिश्चित भू-भाग पर स्थापित करके उसकी आश्वस्त और युद्धोन्मादित निर्णयी प्रज्ञा को उद्घाटित करती है ।

नवगीत में सांस्कृतिक संक्रमण शीलता के प्रभावों को गीत की अस्मिता और स्वभाव और अनुपात में सहज एवं स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्ति दी जा रही है, जो उसके सोच और भाषा में व्यापक रूप से अन्तर्निहित है । इनमें प्रयुक्त समग्र संकेत, प्रतीक और बिम्ब समय सापेक्ष होते हैं और सहज प्रवाहमान होने के कारण समय की और बिम्ब समय सापेक्ष होते हैं और सहज प्रवाहमान होने के कारण समय की सच्चाई को अधिक अर्थवान या सार्थक बनाते हैं । इस प्रकार समय की संगति से जो नये शब्दों की आमद होती है, उन्हीं से सामाजिक संस्कृति में गतिशीलता उत्सृष्ट होती है । नवगीतकार और समीक्षक शिव बहादुरसिंह भदौरिया के शब्दों में - "गीत-सृष्टा का उस विवेक से संचालित होना आवश्यक है जो गीत की अस्मिता और पहचान को बरकरार रखते हुए उसमें समयानुकुल परिवर्तन ला सकता है । आधुनिकता या समसामयिकता बोध के फैशन के रूप में ग्रहण करने के खतरे बढ़ेंगे। बोधगत समस्त स्थितियों, सूचनाओं, अवरोधों, टकराहटों के दबाव से गीत-सृष्टा के अन्तर्गत जो लय अपने को व्यंजित करने के अनुरूप उत्पन्न होती है, उसमें ही वह शक्ति निहित रहती है कि लय के आकार-प्रकार को छोटा-बड़ा कर सके, जब बाहर से बौद्धिक कसरत की जाती है तो पैबन्द आयाँ नज़र आता है और अर्थ विशृंखलित हो जाता है ।"[२१]

वर्तमान गीत से जुड़े कुछ सवाल अति महत्वपूर्ण हैं जिनमें प्रमुख हैं, कविता के इतिहास में उसके एकात्म एवम् अन्तरंग अस्तित्व और पहचान की स्थिति तथा वस्तुपरक बोधगम्यता के निर्वाह में नयी संवेदनाओं के साथ अभिव्यक्ति को और व्यापक व सहज बनाने की बेचैनी । नवगीत-समीक्षक और गीतकार दिनेशसिंह कहते हैं - "गीत को जब हम सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं तो उसका सीधा अर्थ है कि हम गीत को भारतीय मन से जोड़कर देख रहे हैं और गीत पर इस मन की समग्र सांस्कृतिक संकुलता की अभिव्यञ्जना का दायित्व भी स्वीकार करते हैं तो क्या हम फिर अपनी संस्कृति के नाम पर होली की आग और जलते हुए गाँव को एक साथ तापते हुए गीतों के साथ सिर्फ फाग ही गाते

रहें, रंग ही उड़ाते रहें, सूता-परेता, पीपल की छाँव और पोखर के लिए तड़पने, चिरई-चमगुद्दर के लिए बिसूरने या उन्हें राग रंजित भर करने से क्या यह समय की आग बुझ जायेगी । इस आग को बुझाने में यदि इन प्राकृत उपादानों का उपयोग इन्हें संवेद्य बनाकर संवेदनशील औजारों के रूप में किया जाये और इन संवेदनाओं को द्रवीभूत कर पानी की शक्ल में ढाला जाये तो गीत की सार्थकता अपने आप माध्यम के बरअक्स हो सकेगी । अन्यथा सांस्कृतिक दायित्व-बोध का हिमायती गीत मौजूदा समय-सन्दर्भ की आग से बहिर्मुखी या निरपेक्ष ही माना जाएगा ।''[२२]

गीत की संवेदना एवम् छन्द मुक्त कविता की संवेदना अलग-अलग हो सकती है किन्तु इनके आपसी संश्लेषण से जो एक नयी संवेदना सृजन के साथ हो लेती है, वह समग्र रचना को मानवीयता यानी भारतीयता अर्थात् माटी की गन्ध से सराबोर कर देती है और स्वयं रचना की पहचान भी बन जाती है । लोकसम्पृक्ति का सूत्र नवगीत का वह सूत्र है जो आधुनिकता को भारतीय साँचे में रखकर तराशता है और भारतीय हिन्दी काव्येतिहास को मजबूत बनाता है । गीत संस्कृति में वर्गचेतना नहीं, लोक-जीवन की गहरी साझेदारी होती है । अतः नवगीतकार को समसामयिक विचार-साहित्य का अध्ययन भी होना चाहिए जिससे वह अपने सांस्कृतिक संरक्षण के लिए यथार्थ को आदर्श के सापेक्ष्य अपनी मनोलय में आत्मसात कर सके और अपने काल-बोध को भी प्रामाणिकता दे सके । ''ऐसे में उस पर लिजलिजी भावुकता का दुराग्राही आरोप लगाना भी अपने आप मुश्किल हो जायेगा । वहीं गीत भविष्य में पहचाने जायेंगे जिनमें वैचारिक यथार्थ-बोध राग की आग में पककर लोकमत से निःसृत होगा और इस द्वन्द्व-मन में जीवन की जीत का स्वर सबसे ऊपर होकर गूँजता हुआ सुनायी पड़ेगा।''[२३]

स्थापित मूल्य :

नवगीत की सामयिक संरचना का आधार मूलतः स्थापित मूल्यों के प्रति विद्रह को उजागर करना रहा है । नयी क्रान्ति के आवाहन में प्राचीन मानद मूल्यों का निषेध करना कुछ रचनाकारों की पूर्वाग्रही तृप्ति तो रही है तो कुछ रचनाकार उसी पुरानीति के ध्वंश होने पर आत्म-सन्ताप व्यक्त करते रहे हैं। फिर भी यह बात सभी जगह सामान्य रूप से स्वीकार हुई है कि विद्रोह, नगर व्यवस्था के प्रति परिवर्तित मूल्यों से है जो ग्राम व देहातों को भी इसी नगरीय सभ्यता का ज़हर पिला रहे हैं । कवि-जीवन के आदर्श मूल्य इन्हीं आंचलिक परिसरों में ग्राम-देहात और कस्बों की कच्ची पगडंडियों व ऊबड़-खाबड़ गलियों-कूचों में परिव्याप्त है । नवगीतकार बार-बार किसी न किसी बहाने से देहाती संस्कृति के पुरातन मूल्यों को इधर-उधर खोजता हुआ व्यग्र हो उठता है और फिर वह नगरों-महानगरों की नाटकीय, संत्रस्त और असह्य नीतियों क दोषारोपित करता चला जाता है जिन्हें स्थापित करने में वह स्वयं भी समान रूप से भागीदार है । उसकी अपनी संतान भी ईसाइयों को कान्वेन्ट स्कूल में पढ़ते हैं, उसके घर में अंग्रेजी अखबार आता है । घर के ड्राईंग रूम में वह सोफे पर बैठा हुआ दूरदर्शन पर प्रतिष्ठित आधुनिक परिदृश्यों को देखता हुआ सभ्य बनने का अभिमान पालता है । और इसके बाद टूटते मूल्यों और परम्पराओं के प्रति खेद प्रकट करता है । बड़े ही अभिजात स्वर में क्रान्तिकारी शब्दावलियों का प्रयोग करते हुए दिवंगत होती जा रही भारतीय संस्कृति के प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धान्जलि प्रस्तुत करता है । नवगीतकार के खेमे में बहुत सारे ऐसे लोग हैं जो छायावादी रोमांस को व्यक्त

करते हुए गाँव और देहातों की काल्पनिक अभियोजनाएं करते हैं और उनमें इधर-उधर समस्याएं एवं परेशानियाँ जैसे खोजते फिरते हैं ।

दमन, शोषण, संत्रास, बुर्जुआ, सर्वहारा, पिछड़ा, आदिवासी, जनजाति, बनवारी, गरीब आदि संज्ञाओं को ढूँढ़ता हुआ नवगेतर उस गांव और अंचल की काल्पनिक कथा कहता है, जहाँ से उसका शायद ही कोई सरोकार या सम्बन्ध रहा हो । कभी-कभी बड़े रूमानी अन्दाज में नवगीतकार ग्राम्य-अंचल का हिमायती बनकर इतना व्यग्र व चिन्तित दिखायी पड़ता है, जैसे वह किसी अंचल-विशेष का एक अभिन्न अंग रहा हो । जबकि वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत होता है ।

यह तो सत्य है कि समय-परिवर्तन के साथ-साथ आम आदमी की नित्यप्रति या रोजमर्रा की ज़िन्दगी में भी बदलाव आया है । मानद और स्थापित मूल्यों में बदलाव आया है । आदर्श एवम् नीतियों में परिवर्तन हुआ है । बोल-चाल, खान-पान, व्यवहार, आचरण इत्यादि में भी एक स्पष्ट अन्तराल रेखांकित किया जा सकता है । ऐसे संक्रमणकाल में जब ग्राम्य-संस्कृति, नगर-संस्कृति में समाहित हो रही है, नगरों की पहचान राष्ट्रीय अस्मिता से जुड़ रही है और राष्ट्र की पहचान विश्व-संस्कृति से प्रतिस्पर्धा ले रही है या अनुप्राणित हो रही है; पुरामूल्यों के स्थायित्व का सवाल ही पैदा नहीं होता।

हिन्दी साहित्य के विशाल पटल पर यदि दृष्टिपात करें तो आधुनिक काल के काव्य-चिन्तन में भी अनेक बदलाव मुखर होकर सामने आये हैं । हिन्दी-कविता, कल्पनाओं के सप्तरंगी क्षितिज को छूकर धरती की कंटीली और टेढ़े-मेढ़े पगडंडियों से जुड़ती है । गांव-देहात के दर्द को नगर के अभिजात वर्ग ने जाना है । पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण की विभिन्न संस्कृतियाँ आहिस्ता-आहिस्ता अग्रसर होकर एक-दूसरे से गले मिल रही हैं । कविता में वैचारिक दृष्टि से एक बहुत बड़ा परिवर्तन भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से देखा गया । तदनन्तर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी कविता की एक मानद आचार-संहिता ही निर्मित कर दी । छायावाद में कविता अधिक रूमानी और काव्यात्मक छन्दों से सम्पृक्त होकर एक नये तेवर में सामने आयी । प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के अपने-अपने अलग नज़रिये रहे हैं । ऐसे में नवगीत भी निराला से लेकर आधुनिक युग की वर्तमान कविता तक विभिन्न परिवर्तनों से होकर गुज़रा है । व्यवस्थाएं उजड़ती रही हैं । स्थायी, स्थापित मूल्य टूटते रहे हैं और आचरण की नूतन परिभाषाएं आरोपित होती रही हैं -

> **"उलझी हुई रातें मिलीं,**
> **बिखरे हुए से दिन मिले,**
> **बिछुड़ा किये बिछुड़े बिना,**
> **मिलते रहे हम बिन मिले ।**
> **तैरी शिलाएं ऊब की**
> **हिरनी सरीखी यह उमर,**
> **घूमी-फिरी, उछली गिरी**
> **भ्रम की लहर में डूबकर,**
> **हम कौन-से परकाल से**

नापें समय का बांकपन ?
सिमटी हुईं सदियाँ मिलीं,
फैले हुए पल-छिन मिले ।"[२४]

इसी बात को कवि सोमठाकुर बड़े भावावेश और खेद के साथ कहते हैं -

"आज कड़वे आचमन के बाद
वंशी को समर्पित है -
भरी आँखें, सहमते गीत
भारी मन ।
०० ०० ०० ००
रच रहीं जो राग संजीवन हमारा
मातमों से घिर गईं शहनाइयाँ वे,
कर रहीं श्रृंगार मीठे स्वप्न से जो
धन्य हैं संसार की अंगनाइयां वे,
सौंप देंगे हम समय को आज
अपने गुनगुनाते आंसुओं से
धूले दर्पन, फागुनी चितवन ।"[२५]

नीलम श्रीवास्तव ने इसी बात को कुछ और ढंग से अभिव्यक्ति दी है -

"बाँस का जंगल खड़ा
बाँसुरी बजती नहीं है
आग भी लगती नहीं है
एक झीना स्याह बादल
धूप के आगे अड़ा है ।
०० ०० ००
जागता-सोता समय,
दिग्भ्रान्त जनपद है,
भट्टियों से आग
बनकर राख उड़ती है,
कुछ पटाखे फेंककर गीली हवाओं में
एक दुविधा
हाथ-पाँवों को जकड़ती हैं,
पंख क्यों खुलते नहीं हैं ?
एक सूखी झील आगे
पर टिके पंछी अभागे

आँख पर किस स्वर्णयुग का
आज भी ताला जड़ा है ।"[२६]

किसन सरोज भी संवेदना के स्तर पर कवि की इसी शोकाकुल व्यग्रता को व्यक्त करते हुए कहते हैं-

"इस गीत-कवि को क्या हुआ ?
अब गुनगुनाता तक नहीं,
इसने रचे जो गीत,
जगने पत्रिकाओं,
में पढ़े,
मुखरित हुए तो,
भजन-जैसे अनगिनत,
होंठों चढ़े,
होंठों चढ़े, वे मन-बिंधे,
अब गीत गाता तक नहीं ।"[२७]

राम दरश मिश्र कहते हैं -

"कैसा आया समय कि सांझे
होने लगे बन्द दरवाजे
देर हुई तो घर वाले भी
हमें देखकर डर जाएंगे
दिन डूबा अब घर जायेंगे ।"[२८]

नवगीतकार इस दौर में भी कच्चे घर, उजड़ी फसलें, सूखा, गरमी, बाढ़, पाला, अकाल आदि का शिकार होकर व्यवस्था को दोषारोपित करता हुआ जब सामने आता है तो उसके इर्द-गिर्द वहीं साम्यवादी नारेबाजियां, मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्त और इन सबसे ऊपर मुखर होता एक जुझारू जंग का ऐलान, जैसे बार-बार घोषित होने लगता है ।

नवगीतकार बार-बार गांव-चौपाल से जुड़ी पंच-पंचायतों में, छोरी की व्याह में, गलियों-मुहल्लों में, बूढ़े खाँसते हुए काका-काकी की सूनी आँखों में गुम-सुम, चुपचाप बच्चों की शातिर आंखों में, कलुआ, नन्हें, बनवारी, करीम, अलादीन, धुनिया की खिंची हुई मौभौं और तने हुए जबड़ों में एक नयी क्रान्ति का आरम्भ देखता है । संस्कृतियां आयातित होकर इस ज़मीन की पुरानी पौध को ढंकती जा रही हैं, इसे भी नवगीतों में पिरोया जाता रहा है, या यों कह सकते हैं कि, इन्हें भी नवगीतकारों ने हाशिये पर उत्कीर्ण किया है -

"छाती फटी कुआं पोखर की
धरती पड़ी दरार,
एक पपीहा तीतर पांखी

घन को रहा पुकार
आगे नहीं खिसकता
सूरज के रथ का पहिया
भईं लोटल पुरवइया सहमी
वर्षा होगी क्या ।"[२९]

नवगीतकार नवीन मूल्यों को स्वीकार तो करता है किन्तु वह इस परिवर्तित मूल्य को इन्हीं पुरामूल्यों में तलाशता रहता है -

"दरवाजे अपने हैं,
ताले गैरों के
आंगन में हिस्से हैं
नत्थू-खैरों के,
अपने खेत, फसल भी अपने
खलिहान दूसरों के "[३०]

वैसे नवगीत के सम्पूर्ण कथ्य में जो भी परिवर्तित मूल्य सामने आये हैं, उनका मूल आधार पुरासंस्कृति के स्थापित मूल्य ही हैं जो बार-बार उलटते-पलटते और बदलते रहे हैं ।

पारिवारिक सन्दर्भ :

भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य में 'परिवार' की भूमिका अहम रही है । परिवार और घर-इकाई की संरचना, एक साथ मिलकर रहने की भावना, सामूहिक भाव-बोध और सह अस्तित्व के लिए अन्तःप्रेरणा है । यह समूहभाव भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक बुनावट की बुनियाद है । अन्तर्मन का भावविस्तार ही वह कारण रहा है जिससे अधिक-से-अधिक लोगों की बीच सुख-दुःख बांटकर रहने की आकांक्षा प्रबल रही । परिवार के आयतन में अधिकाधिक लोगों को समेटने और फिर सबके लिए सुख की कामना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावयात्रा में पहला कदम ही तो है ।

नवगीत में संयुक्त परिवार की संरचना-बोध और निष्ठा के बहुतेरे यथार्थ चित्र उकेरे गये हैं । जीवन-दृष्टि की विशालता इन चित्रों की विशिष्टता है । मानवीय सम्बन्धों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों, पशु-पक्षियों और यहाँ तक कि प्रकृति भी रागात्मकता का अविभाज्य अंग बनकर नवगीतों में प्रस्फुटित हुई है । यहां इन सम्बन्धों का स्मरण, मात्र संरचना को उद्‌घाटित करने के निमित्ते या कि समाज शास्त्रीय अध्ययन के लिए नहीं है; अपितु इनसे उष्मा, ऊर्जा, जीवन्तता और ताज़गी भी मिलती है, जो मानवीय सम्बन्धों को प्रखर एवम् प्रगाढ़ तो बनाती ही हैं, कठिन से कठिन चुनौतियों और भौतिक आपदाओं से समवेत रूप में संघर्ष करने को उत्प्रेरित भी करती हैं । परिवार-बोध, जिसमें प्रकृति और पशु-पक्षी भी शामिल हैं, एक ओर तो हमारी संवेदना को अधिक से अधिक व्यापक और मूर्त बनाता है, चेतना को विस्तार देता है, तो दूसरी ओर सामूहिक इच्छा, भाव और सामूहिक कर्म को प्रेरित भी करता है ।

पारिवारिक परिदृश्य के तहत नवगीत में एक बहुत बड़ा हिस्सा उस गमगीन और त्रासद भरी संत्रस्त पारिवारिक ज़िन्दगी का है जो समाज के द्वारा सतत उपेक्षा और ग्लानि का शिकार होता रहा है। इसमे विधवा पत्नी, बूढ़ी माँ की अभावग्रस्त ज़िन्दगी है, काम के लिए भटकता हुआ भटकता हुआ भूखा श्रमजीवी है, नौकरी की तलाश में दरबदर दौड़ता, ठोकर खाता हुआ पढ़ा-लिखा नौजवान है, व्यवस्था का कहर है, और दमघोंटू ज़िन्दगी जीता हुआ आम आदमी है। शहरी प्रदूषण में छटपटाती हुई आधुनिक पीढ़ी है जो बार-बार क्रान्ति या आन्दोलन के लिए उकेरी जाती है, और हर बार आम चौराहे पर जिसका कत्ल हो जाता है। अधिकतर नवगीत-कवियों ने ऐसे परिदृश्यों को अपनी रचनाओं में समेटा है। यथा -

"जिन्दगी ने कर लिया स्वीकार,
अब तो पथ यही है।
क्या भरोसा, कांच का घर है, किसी दिन फूट जाये,
एक मामूली कहानी है, अधूरी छूट जाये,
एक समझौता हुआ था रोशनी से, टूट जाये,
आज हर नक्षत्र है अनुदार
अब तो पथ यही है।
यह लड़ाई, जोकि अपने आप से मैंने लड़ी है,
यह घुटन, यह यातना, केवल किताबों में पढ़ी है,
यह पहाड़ी पांव क्या चढ़ते, इरादों ने चढ़ी है,
कल दरीचे ही बनेंगे द्वार,
अब तो पथ यही है।"[३१]

हिन्दी के सुप्रसिद्ध ग़ज़लकार और गीतकार दुष्यन्त कुमार की उपर्युक्त गीत-पंक्तियाँ परिवार के एक टूटे हुए सदस्य की दास्तान सुनाती हैं जो अत्यन्त ही संवेदनशील बन पड़ी है। इसी तरह श्याम सुन्दर दुबे की निम्न नवगीत पंक्तियाँ भी कुछ ऐसी ही कहानी कहती हैं -

"संझा बेरा
फिर आदिम भय
मन की देहरी घेरे।
आंगन उतरा सघन अंधेरा
बीती धूप को टेरे !.....
सिसकी होठों थमी
देह से पूछें आखें
कितने दाग चदरिया,
चौखट भीगी अंसुअन
हिचकन रोयी

सांकल चढ़ी किवरिया,
लौटी संझा
खोयी-खोयी
फिर भूतों के डेरे !
छाती से चिपका भविष्य के
कोरे कठिन अंधेरे ।''[३२]

एक और परिवार की व्यथा-कथा श्याम सुन्दर दुबे ने इस प्रकार कही है -

''छज्जों चढ़कर
अड़-बड़ बोले
तपे दुपहरी जेठ की !
बजरी पीटे
गिट्टी फोड़े
गाँव-गिरानी
सड़क को जोड़े !
शीतल पाटी
मालिक बैठे
रैयत गोट चपेट की !
फूटी बटुली
टूटा चूल्हा
ऋण की पाग
लपेटे दूल्हा !
सूखा बाढ़
अषाढ़ों चढ़ गये
घर गिरथी अलसेट की !''[३३]

यश मालवीय पिता की अहमियत को गीतांकित करते हुए कहते हैं -

''आज भी सौ ज़ख्म ज़िन्दा
अधमरे-से हैं जेहन में
पर सवेरा गूँथता है
हर कली में, हर किरन में
सुन रहा ऊँचा कि फिर भी
आहटों पर कान-सा है ।
पिता बूढ़ा है कि
कुछ दिन का कहो मेहमान-सा है

रात के काले पहर में
एक आतिश दान-सा है ।''[३४]

इसी तरह माँ के सन्दर्भ में सुधांशु उपाध्याय की यह गीत-पंक्तियाँ देखें -

''सुबह-शाम खटती है
बेचन की माँ ।
इंच-इंच घटती है
बेचन की माँ ।
नागिन-सी उठती है
पेट में लहर,
आंतों में पलता है
भूख का शहर,
आगे से हटती है
बेचन की माँ ।
रेलों से कटती है
बेचन की माँ ।''[३५]

हृदय चौरसिया एक संत्रस्त एवम् संघर्षरत परिवार के थके-हारे और टूटे हुए नौजवान बेटे की खीस को जज़्बाती अन्दाज में अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं -

''ओ पिता !
जनमा कर तुमने
की क्यों
ऐसी भूल,
दी सरिता ऐसी
जिसमें,
न जल,
न कूल,
पल-पल बीता
जैसे दहकती चिता ।
गिरवी है घर-आंगन
बिका आसमान,
जाने कब सांझ हुई
और कब विहान,
ठांव-ठांव
बिखरी है

टूट अस्मिता ।
ओ पिता !''[३६]

या फिर, अखिलेश कुमार सिंह की इन नवगीत-पंक्तियों को देखें जिसमें एक अबला नारी की दैनन्दिनी से जुड़ी उसकी मनोव्यथा की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है -

''उपले पाथेगी,
बासन मांजेगी,
पारबती अपने दिन
यों ही काटेगी ।
आंखों में
जंगल या
पांतर होगा,
माथे पर
लकड़ी का
गट्ठर होगा,
गुमसुम आयेगी
गुमसुम जायेगी
सूरज या बादल की
ओर न ताकेगी ।''[३७]

टूटते हुए पारिवारिक अस्तित्व और उसकी त्रासदी को व्यक्त करते हुए गुलाबसिंह लिखते हैं -

''बप्पा सिर पर हाथ धरे हैं
माँ बैठी मन मारे ।
टूटी छत के तले
भाइयों के -
अन्तिम बंटवारे ।
घर के दिन सो गये
शाम की
सिली पिछौरी साटकर ।
बच्चे,
जैसे -
खुलें महाजन के खातों के पन्ने ।
बूढ़े, लगते हैं
मुनीम के अद्धे और पवन्ने ।

बहन, चौधरी की मर्ज़ी-सी
बिरादरी की टाट पर ।"[३८]

वर्तमान जीवन के समानान्तर ही मानवीय और पारिवारिक सम्बन्ध तेजी से बदल रहे हैं । सम्बन्धों की मिठास भी क्रमशः विषाक्त होती जा रही है । इन बदले हुए मानवीय सम्बन्धों का चित्रण कुंवर बेचैन ने यों किया है -

"कैसी विडम्बना है
जिस दिन ठिकुर रही थी
कुहरे भरे नदी में मां की उदास काया
लेने चला था चादर मैं, मेजपोश लाया"[३९]

नवगीत में गृहरति की अभिव्यक्ति का कारण अपने सहज परिवेश से कटकर कवि के एक अनवरत यन्त्रणा-क्रम से जुड़ जाने का परिणाम है । वह जिस मूल जमीन से उखड़ा है, उसके सांस्कृतिक परिवेश का छूटना आधुनिक जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है । यांत्रिक जटिलताओं, ग्राम्य एवम् नगरीय विकृतियों तथा आपाधापी के परिणामस्वरूप बाहर एवं भीतर एक खंडितता का बोध आज के पारिवारिक जीवन का यथार्थ बन गया है । इस यथार्थ को रमेश रंजक, गोपाल चतुर्वेदी, विनोद तिवारी, श्याम सुन्दर दुबे, कुंअर बेचैन और गुलाब सिंह ने विशेष रूप से रेखांकित किया है । आज जीवन अभावों से ग्रस्त हो चुका है, दूसरी ओर इसमें व्यक्ति-व्यक्ति के बीच पहचान खोती जा रही है, चाहे वे एक ही घर-परिवार से क्यों न जुड़े हों । यदि कोई पहचान शेष है, तो वह है लेन-देन की । रमेश रंजक ने अपनी रचनाओं में इन्हें स्वर दिया है । सम्बन्धों में दरार पड़ जाने, दोस्ती जैसी पहचान निरर्थक हो जाने जैसे प्रसंगों का चित्रण उन्होने अपने गीतों में जिस रूप में किया है, उसका एक चित्र प्रस्तुत है -

"मोल के थे दिन, मुलाकातें गरम
सामने भर का घरेलूपन
चाय-सी ठंडी हंसी आंखें तराजू
एक टुकड़ा मन ।"[४०]

ओम प्रभाकर ने प्यासे हम-तुम, क्या करें, किससे कहें, क्या हुआ प्रिय, तुम्हारा संग-सुख, टूटे सब जुड़े आदि गीतों में व्यक्ति की उदास मनःस्थितियों को ही अभिव्यक्ति दी है । उन्हें लगता है कि, सब फूल झर गये हैं और सारे स्वप्न राख होकर उड़ गये हैं और

"अब यह मैं केवल
यह सूना घर
सन्नाटा मंडराता प्रेत-सा
दृश्य बुझ गये कब से
फिर भी आंखों में कुछ
करक रहा रेत-सा ।"[४१]

कुमार शिव को लगता है कि, आस-पास से कटे होकर हंसते हुए भी उदास हैं। बदली हुई सामाजिक एवम् सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप सम्बन्धों का पथरायापन व्यक्ति को बहुत अकेला कर गया है -

"जब तक था उपयोग हमारा
चाहे गये यहां लोगों से
किन्तु लग रहे अब उनको ही -
हम रद्दी अखबार - से ।
सुर्ख स्याह रंगों की
तिथियों के कारण ही
सुबह-शाम हम
चर्चित रहते थे इस घर में ।
सूरज का पहिया लेकिन
तेजी से घूमा
पीछे छूटे हम
जीवन के तेज सफ़र में ।
हुए निरर्थक
कोई चाहे फाड़े या फेंके रद्दी में
नहीं हमें अब लेना-देना
शोक-दिवस - त्योहार से ।"[४२]

कुमार शिव ने जीवन की जटिलताओं, गरीबी, विवशता और इन सबसे उत्पन्न दयनीय दशा को अत्यन्त ही सजीवता से संवेदना के स्तर पर अभिव्यक्ति प्रदान की है जिन्हें पढ़कर या सुनकर अनायास ही दृष्टि-पटल पर एक दृश्य घूम जाता है -

"बहिना की शादी में
रेहन रख दिया था जो
कर्जे में डूबा आकण्ठ वह मकान
मांडने कढ़ा हुआ ।
लालटेन का प्रकाश
रात-रात भर जगना
पर्चों की तैयारी ।
बाबू जी की मिर्गी
अम्मा का गठिया
लम्बी असाध्य बीमारी ।
कितने संघर्ष-भरे दिन इसमें बीते हैं

बावजूद आँधी-तूफानों के
यह मकान
गांव में खड़ा हुआ ।''[४३]

ऐसा ही दृश्य नवगीतकार प्रेम तिवारी ने अपने इन नवगीत पंक्तियों में उकेरा है जिसमें एक परिवार की बदहाली और उसके घर की जर्जर हालत का बयान किया गया है -

''नीम-हकीम
मर गया कब का
घर-आंगन बीमार,
बाबू जी तो
दस पैसा भी
समझे हैं दीनार,
ऊब गई हूँ
कह दूँगी मैं ऐसी-वैसी बात ।
दादी ठहरीं भीत पुरानी
दिन-दो दिन मेहमान,
गुल्ली-डण्डा
खेल रहे हैं,
बच्चे हैं नादान,
टूटी छाजन
झेल न पायेगी अगली बरसात ।''[४४]

नवगीतों में पथरीले सम्बन्धों को बखूबी चित्रांकित किया गया है । देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' को हर रिश्ते का रक्त जमा-जमा दिखाई देता है । उन्हें लगता है कि दिन पाटलिपुत्र जैसे सूने हैं और रात वैशाली की तरह हैं शायद इसी कारण मन बहुत बेचैन है और उलझनों में घिरा हुआ है -

''आज के सवालों को
अनजाने कल पर हम
यों कब तक टालते रहें ?
गुज़री तारीखों के पन्नों से
सारे सपने फटे,
जीते हैं अनचाहे क्षण को हम
पिछले सन्दर्भों की
राह से बिना हटे,
अभिनय के सांचों में

भीतर की ऋजुता को
यों कबतक ढालते रहें ?"[४५]

माहेश्वरी तिवारी को लगता है कि मौसम आकर बिना वहज रिश्ते-नाते तोड़ जाता है । और अब 'हम-तुम' कटे हुए सन्दर्भों वाले संवाद रह गये हैं । जाले की तरह तना अकेलापन झेलने में वह स्वयं को असमर्थ पाते हैं । अंधेरों से घिरा हुआ कवि रोशनी के लिए छटपटाता नजर आ रहा है-

"कहां जायें इस अंधेरे से
अभी बाहर निकल के ।
दूर से आवाज़ कोई
चीख की आती हुई
एक दहशत हर गली
हर मोड़ पर छाती हुई
बुझ गई है हर तरफ की रोशनी
कुछ देर जल के ।"[४६]

नवगीतकार इसी कारण भविष्य के प्रति आशंकित और भयभीत भी है । वह हमें सचेत करते हुए कहता है -

"आने वाले हैं
ऐसे दिन आनेवाले हैं,
जो आँसू पर भी पहरे
बैठाने वाले हैं,
आकर आस-पास भर देंगे
ऐसी चिल्लाहट,
सुन न सकेंगे हम अपने ही
भीतर की आहट,
शोर शराबे
ऐसा दिल दहलाने वाले हैं ।"[४७]

अनूप अशेष को लगता है कि, असमय आयी आंधी भाइयों की बांह से मिलते अहसास वाले पेड़ों को उखाड़ देती है । बदलते परिवेश में मां-बाप-बहन का प्यार एक सपना हो गया है क्योंकि अनेक बार परिस्थितियों ने स्नेह के इन मूल आसंगों की लुटती अस्मिता के इस दौर में घर-परिवार, गाँव-देहात की व्यथा का चित्र कवि ने आत्मानुभूति और संवेदना के स्तर पर आंका है । अपने गीतों में उन्होंने घायल ऋतु-चक्र की व्यथा-कथा को ही दोहराया है । थाली दुपहरी से धोयी रखी है, बाबा कचहरी से नहीं लौटे । खेतों में मुकदमें उग रहे हैं । भूख की चिरैया रोटी की महक सूंघ गयी है, आंतों की ऐंठ पोर-पोर में उतर चुकी है । घर भूखे पेटों का भूगोल है, दर्द साढ़े तीन हाथ

का है, नेह तिल-दो तिल का। मैना के लिए आकाश अस्तित्वहीन है, केवल जाल ही सच है, पिंजरे में डैने पसारना मुश्किल तो क्या, संभव भी नहीं है। युग की त्रासदी और विडम्बना को शब्द और स्वर देते हुए कवि कहता है -

"पांव के नींचे चुभे
गोखरू के दंश
फोड़ते हैं देह को सामन्त-क्षण
दर-बदर हैं
सर्वहारा हंस।"[४८]

श्रीकृष्ण शर्मा एक दूरस्थ पुत्र की मनःस्थिति का चित्रांकन करते हुए कहते हैं -

"हे पिता ! यदि हो कहीं
तो क्या लिखूँ तुमको
बस यही जो जिस तरह था
उस तरह ही है।"[४९]

दिनेश सिंह ने 'रसोइये का गीत' में अम्मा और बहना के प्यार की दुर्लभ स्थिति को चित्रित किया है। उनके अधिकांश गीतों में ऐसे दृश्य दिखाई पड़ते हैं जो पाठक या श्रोता को संवेदना के स्तर पर झकझोरते हुए आत्म विभोर कर देते हैं। यथा-

"दुख मेरे मैके से आया
सासू का बड़बोला जाया
सुख की खेती जोते-बोये
बासंती आठ पहर रोये
'भुखिया' ना अंगरेजी जाने
चूल्हे की रोटी पहचाने
सेन्हुर के रंग सनी बड़की
तानों की पिचकारी ताने
रंग धुले छिन-छिन पर काया
जूठी थाली जैसी माया
माई की सुधि हिया करोये
बासंती आठ पहर रोये।"[५०]

जब सभ्यता अर्थ-केन्द्रित हो जाती है, तो जीवन के सभी भावुक सन्दर्भ पथरा जाते हैं। तब गाँव और नगर दोनों स्थानों का पारिवारिक जीवन विकृति ग्रस्त और विषाक्त हो जाता है। ग्राम्य-जीवन की निसर्ग-निश्छलता में भी इन विकृतियों की दुर्गन्ध अब उठने लगी है। इस स्थिति का दृश्यांकन राम दरश मिश्र, गुलाब सिंह, श्रीकृष्ण तिवारी, नईम, सूर्यभानु गुप्त, विष्णु विराट व राजेन्द्र गौतम ने

अपने अनेक गीतों में किया है । पथराये ग्राम-सन्दर्भों और उनमें घिरे हुए आम आदमी के घर-परिवार की मनोदशा को रेखांकित करते हुए राम दरश मिश्र लिखते हैं -

"यह मेरा गांव नहीं
कहां आ गया हूं मैं
टूटे पेड़ों का सन्नाटा
उग रहा हवाओं में कांटा
पक्की दीवारों के नीचे
मिट्टी-सा दब-दबा गया हूँ मैं ।"[५१]

दूसरी ओर सूर्य भानु गुप्त ने स्थिति का मार्मिक चित्रण करते हुए लिखा है -

"खंडहर हो गये गांव
भूतों का वास हुआ,
बप्पा, भइया, काका
हर नाता घास हुआ ।"[५२]

उधर नगरों की विकृतियां भी कम नहीं हैं । उमाकांत मालवीय को ये नगर-महानगर रहने लायक नहीं लगते । भीड़-भाड़ और भाग-दौड़ में जीवन के सूत्र इस प्रकार टूटे हैं कि माँ, बेटे, पत्नी सभी यंत्रवत हो गये हैं । घर आंगन-दालानों के लिए तरस गये हैं -

"निगल गये पनघट को
सड़कों के नल
बेबस बेपर्द देह, दृष्टि उठी जल
आंगन-दालानों को
तरस गये घर
खोली-दर-खोली से घर गये उधर ।"[५३]

श्याम सुन्दर दुबे ने भी व्यक्ति और समाज की विभाजित मनः स्थितियों का यथार्थ चित्रण अपने कई गीतों में प्रस्तुत किया है । कवि को लगता है कि हम एक खण्डित इकाई की तरह अधूरे हैं। विभाजित बोध से ग्रस्त यह जीवन दो जीभ वाला नाग हो गया है । कवि ने आज के कुचले हुए, टूटे हुए व्यक्ति की दयनीय स्थिति का बयान इस प्रकार किया है -

"आंधियां चटका गयी हैं
बांह जब से
हो गयी गुम-सुम हमारे द्वार की जामुन
कटे बाजू से पिता के
बंट गये आंगन
बहुत भारी है तभी से मां का मन

आंच सूने कांच की
पी गयी है
सदा नीरा हंसी को
चेहरे बचे हैं रेत ।''[५४]

गीतकार गोपाल चतुर्वेदी को लगता है कि, अपने सन्दर्भों से कटे हुए लोग कई-कई टुकड़ों में बंट गये हैं और ये उसूलों के जंग में पिटे हुए हैं । पारिवारिक सम्बन्ध बिखर चुके हैं । जितनी दीवारें हैं, आंगन भी उतने ही । तब मन के समीकरण भला कैसे जुड़ सकते हैं । जीवन इतना बनावटी हो गया है कि विदाई-क्षण भी एक औपचारिकता मात्र होकर रह गये हैं, यहां अब हाथ हिलाने भर से काम चल जाता है । पहचान इतनी निरर्थक हो गयी है कि मौसम की बात खत्म होते ही चुप्पी छा जाती है । ये सभी स्थितियां एक विसंगत परिवेश की उपज हैं । अन्य नवगीतकारों ने भी इस कृत्रिमता, यांत्रिकता और औपचारिकता का चित्रांकन अपनी नवगीत-रचनाओं में यथोचित रूप से किया है । इन विसंगतियों के फलस्वरूप साधारण जन-मानस विपरीत परिस्थितियों के साथ जूझ रहा है । जन-सामान्य के इस पारिवारिक अन्तर्कलह और संघर्ष को नईम, नीलम श्रीवास्तव, विनोद तिवारी, श्रीकृष्ण शर्मा, विद्यानन्दन राजीव, राम सेंगर, रमेश 'रंजक', कुंअर बेचैन, शीलेन्द्र सिंह, बाल स्वरूप राही, रामेश्वर वैष्णव, गुलाब सिंह आदि नवगीतकारों ने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है ।

एक तरफ वणिक् वृत्ति से ग्रस्त-संत्रस्त नगराभिमुखी व्यक्ति, परिवार और समाज है, दूसरी ओर इस भागमभाग में उपेक्षित छूट गये ग्रामीण जीवन की विडम्बना गाथा है, जहां से निर्वासित मन को जब भी कोई सम्पर्क छू जाता है, तो उसका प्राथमिक आग्रह यही होता है -

''पाहुन गाम की कहो
गुबरीले हाथों में
झाडू थामे सीता
भीगते पसीने में राम की कहो !
पहुंच सकी है क्या कुछ
वहां / गली-गलियारे
परिजात की भीनी गन्ध
क्या पीले पपड़ाये
होठों का जुड़ पाया
जीते छन्दों से सम्बन्ध
बहती है गर्म नदी
तेज दहकता सूरज
कहो तनिक
उसी सूरज घाम की कहो ।''[५५]

कुछ नवगीतकारों, सत्य नारायण, उमाशंकर दीक्षित, कुमार रवीन्द्र, नईम, श्रीराम सिंह 'शलभ',

जहीर कुरेशी, विनोद निगम, रवीन्द्र भ्रमर, विष्णु विराट, शांति सुमन, आदि ने पारिवारिक रिश्तों को जब भी संवेदना के स्तर पर व्यक्त किया है तो अधिकांशतः ये रिश्ते देहाती और ग्राम्य परिवारों की व्यवस्था से ही जुड़े हैं । इसका प्रमुख कारण यही है कि, नवगीतकार का अनुभूत अतीत जब भी संवेदनात्मक स्तर पर व्यक्त हुआ है तो वह उसके अपने ग्राम्य-परिवेश को छूता हुआ आगे बढ़ा है। परिवार में वैसे तो मां-बाप, भाई-बहन, ननद-भौजाई, चाचा-भतीजा, दादा-दादी, काका-काकी, बेटा-बेटी, बच्चे, पड़ोसन आदि रिश्तों को विविध परिदृश्यों में गीतांकित किया गया है, किन्तु शहरी वातावरण में जैसे ये रिश्ते अपनी अर्थवत्ता खोते जा रहे हैं, इस कारण शहरी परिवार इन नवगीतों में कम ही दिखाई देता है ।

नवगीत में आस्था, हर्षोल्लास, प्रणय, रोमांस जैसे सुखद पारिवारिक क्षणों की भी अभिव्यक्तियां पर्याप्त विद्यमान हैं । यहां संयोगपरक अथवा प्रीतिपरक सन्दर्भों का पारिवारिक परिदृश्य में दो चित्रांकन हुआ है, वह स्पष्ट रूप से परम्परा से पृथक प्रतीत होता है । मां, बहन, भाई, पति, पत्नी, भइया-भाभी आदि सन्दर्भ सांस्कृतिक परिदृश्यों के रंग में रंगकर नवगीत में चित्रित हुए हैं । रवीन्द्र भ्रमर, उमाकान्त मालवीय, माहेश्वर तिवारी, ओम प्रभाकर, नईम, किशन 'सरोज', बुद्धिनाथ मिश्र, हरीश निगम, अखिलेश कुमार सिंह, ज्योतिप्रकाश सक्सेना आदि अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं में ऐसे दृश्यों का अंकन सहज और स्वाभाविक रूप से किया है ।

नवगीत में सुखद पारिवारिक एवम सांस्कृतिक सन्दर्भों को प्रतिबिम्बित करनेवाले परिवेश में अवगुंठित करनेवाली बहुएं हैं, महावर रचे पांव हैं, मेंहदी रचे हाथ हैं, पान रचे होंठ हैं, कजरारी आंखें हैं, सिन्दूर बसी मांग हैं, लंहगा, फरिया, ओढ़नी, चूनर, करधनी, बिछुआ, कंगना, नथुनी, नूपुर, हंसली और पायल-पैंजनी जैसे साजो-सामान हैं । आम के नीचे झूले झूलती गांव की किशोरियां हैं, अमरूद और इमली के पेड़ों पर चढ़ते-कूदते बच्चे और किशोर हैं, तालाब में तैरती भैंसें हैं, भेड़-बकरियों के झुण्ड हैं, चरवाहे हैं, बंशी और मादल के गूंजते स्वर हैं, कजरी, बिरहा, रसिया, होली और आल्हा गाते नौजवान हैं, डेवढ़ी और देहर पर बैठी हुई काली चाची, ताई और दादी हैं, बुआ हैं, और बुढ़ी-पड़ोसन काकी है - और भी बहुत कुछ है जो गांव की सुखद पारिवारिक संस्कृति की याद दिलाते हैं । गांव के परिवेश में पारिवारिक सम्मोहन का स्वर उभारते हुए अनूप 'अशेष' कहते हैं -

"गांव हमारा
परदादा की मोह मुहब्बत का
पान-पतौखी
तीज-कजलियों
रिश्तों-सोहबत का
अपनी सीधी चाल चलन है ।
यहां न भरमाना !
भैया !
शहर नहीं आना ।

गांव हमारा
अम्मा-बाबू की आशीषों का
ठंसी-ठिठोली
पीहर-सासुर
चेहरों-शीशों का
शील-शरम सब यहां बिकाऊ
बम्बइया बाना !
भैया !
शहर नहीं आना !''[५६]

इस गीत में परिवार का आन्तरिक स्नेह और प्रेम अभिव्यक्त हुआ है । इसी तरह एक परिवार का यह दृश्य देखें जिसमें गुलाब सिंह ने बड़ी मार्मिकता से एक-एक चित्र उकेरा है और जिसे पढ़ते ही दृष्टि-पटल पर फौरन एक दृश्य उपस्थित हो जाता है -

''हरे लहरे खेत से टहकारती सोना पतारी
ले रहे बाबा हरि का नाम,
खींचती अम्मा पकड़कर कोर चादर की
उठीं दीदी, जगीं अंगड़ाइयां,
खनकता आंगन संवरते बरतनों से
लीपतीं चौका-ओसारा भोर-सी भौजाइयां
दोहनी में धार, तार सितार के बजते
सुबह के संगीत होते काम ।''[५७]

बाबा नागार्जुन का भी यह गीतांश देखें जिसमें बहुत दिनों के बाद घर-परिवार में आयी खुशहाली का बयान अत्यन्त मार्मिक रूप से किया गया है -

''बहुत दिनों के बाद-
अबकी मैंने जी भर देखी
पकी सुनहली फसलों की मुस्कान ।
बहुत दिनों के बाद ।
अबकी मैं जीभर सुन पाया-
धान कूटती किशोरियों की
कोकिल कंठी तान
बहुत दिनों के बाद ।
अबकी मैंने जीभर सूंघे-
मौलसिरी के ढेर-ढेर-से
ताजे-टटके फूल

बहुत दिनों के बाद ।
अबकी मैंने जीभर-
तालमखाना खाया
गन्ने चूसे जी भर-
बहुत दिनों के बाद ।''[५८]

अनूप अशेष का एक और नवगीत-खण्ड देखें जिसमें घर-परिवार और गांव की नैसर्गिक सुन्दरता और खुशहाली की चर्चा की गई है -

''कच्ची-सी उम्र
पकी बाली-सी
धूप
आंगन में खनके
कंगन-भर
सूप
मां का प्रतिबन्ध मेरा गांव ।
मन का अनुबन्ध
मेरा गांव ।
नइहर-से हरे खेत
पीहर-सी
मेड़
बोलता प्रतीकों में
बरगद का पेड़
पान का प्रबन्ध मेरा गांव ।
मन का अनुबन्ध
मेरा गांव ।''[५९]

उमाकान्त मालवीय लिखते हैं -

''भइया को देती अंकवार
सखियों के रूंधे हुए बैन
प्रियतम संग बीती जो रैन
दोनों ही करते बेचैन
दो सुधि में सखि का है
जीना दुश्वार
भाभी को देती अंकवार ।''[६०]

अपने निबन्ध 'कविता क्या है'[६१] में जब आचार्य राम चन्द्र शुक्ल कहते हैं कि 'प्रकृति का उन्मुक्त लोक महानगरों में मिलता नहीं, और उसके बग़ैर रहा नहीं जाता' । तो प्रकृति और प्रकृति

के बीच मानव अनुभूति के संश्लिष्ट चित्र, उन दृश्यों की यादें, उन अनुभवों को पुनः पाने की लालसा और तब गांवों, कस्बों की गोंद और गलियों में ब्रच्चे की भाँति दुबकने की उत्कण्ठा उत्पन्न होती है, जो नवगीत में अभिव्यक्त है । यह स्मृत्याभास वह गृहासक्ति है, जो आधुनिक महानगरीय सभ्यता के आवरण को भेदकर नैसर्गिक जीवन और निश्छल आचार की ओर प्रेरित करती है । नवगीतकार सत्यनारायण को भी जब अपना बच़पना याद आता है तो लिखते हैं -

"बच्चे जैसे
कथा-कहानी !
परी-देश के
स्वप्न सरीखे
दीखे, खुल-खिल
हंसते दीखे
        जैसे झिलमिल
        चांद-सितारे
        जैसे, कलकल
        बहता पानी !
इनकी तुतली
तुतली भाषा
मेवा मिसरी
दूध बताशा
        कांच रबड़ के
        खेल-खिलौने
        गुड्डे गुड़ियां
        राजा रानी ।"[६२]

नवगीत में प्रेम का निषेधात्मक स्वर कहीं नहीं है, बल्कि वहां वह रचना, प्रेरणा और उमंग का केन्द्र-बिन्दु बनकर प्रतिष्ठित है । मान्य आलोचक सत्येन्द्र शर्मा कहते हैं कि, "नवगीत राग-प्रधान विधा है जो मानव-सम्बन्धों को संयोजित करने का सूत्र है, और प्रेम ही इन सम्बन्धों को स्थायी व प्रगाढ़ बनाता है । यह आकस्मिक नहीं है कि, नयी कविता में भी प्रेम की महत्ता का गान गाया गया, या प्रेम की परिभाषा रची गयी तो अभिव्यक्ति का माध्यम नवगीत-शिल्प रचना ही बनी है ।"[६३] नवगीत में व्यक्ति-सापेक्ष प्रेम की सघन अभिव्यक्तियाँ मिलती है । प्रेमजन्य स्मृति के अनगिनत सिलसिले नवगीत में उभरते हैं । सहचरी के साथ प्रणय और मिलजुलकर संघर्ष करने की कहानियाँ यहाँ व्यक्त मिलती हैं । यहां औरत साक्षात् रूप में उपस्थित हैं । वह प्रेम का सजीव माध्यम और जीवन्त सत्ता है । यहां वियोग-जनित याद के अतिरिक्त संयोग के भाव-प्रवण दृश्यों में भी स्मृतियों की अनुगूंज मिलती है । यहां का दाम्पत्य प्रेम परिवार, समाज और संस्कार से जुड़ा हुआ है । छोटे-छोटे दैनन्दिन जीवन के अनुल्लेखनीय ब्यौरे भी आलम्बन के लिए प्यार के कारण बनते हैं । नवगीत में पारिवारिक

व दाम्पत्य प्रेम-उद्‌भावना के अनके ऐसे प्रसंग मिलते हैं -

"टूटे आस्तीन का बटन
या कुर्ते की खुले सियन
कदम-कदम पर मौके याद तुम्हें करने के

०० ०० ०० ०० ०० ०० ००

अरसे से बदला रूमाल नहीं
चाभी क्या जाने रख दी कहां
दर्पण पर सिन्दूरी छींट नहीं
चीज़ नहीं मिलती रख दो जहां
चौके की धुंआती घुटन
सुग्गे की सुमरिनी रटन ।"[६४]

नवगीतों में निहित सांस्कृतिक पहचान की झलकियाँ यत्र-तत्र अनेक रूपों में काव्यांकित हुई हैं, तथ्यान्मक रूप से तो यही कहा जा सकता है कि इसमें बिखरते जीवन मूल्यों की त्रासदी तथा अभावों की अनिवार्यताएँ सर्वत्र स्थापित है । वैयक्तिक रूप से मनुष्य एक अकथ्य पीड़ा से छटपटा रहा है । नवगीतकार इस बिखरी हुई पीड़ा से सीधा सरोकार रखता है और अपने स्वयं में उपस्थित होने का ऐलान भी करता है । कवि किशन सरोज ने इस संदर्भ में ठीक ही कहा है -

मत लाओ नयनों में नीर, कौन समझेगा,
वह देखो कुहरे में नन्दनवन डूब गया ।

संदर्भ सूची :-

१. डॉ. राम विलास शर्मा : परम्परा का मूल्यांकन, पृष्ठ १५
२. डॉ. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत - संवेदना और शिल्प, पृष्ठ २११
३. रैल्फ फॉक्स : उपन्यास और लोकजीवन (अनु. नरोत्तमदास नागर), पृष्ठ १४३
४. शिव बहादुर सिंह 'भदौरिया' : नवगीत दशक -१, पृष्ठ १०४
५. विनय भदौरिया : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ ७९
६. वीरेन्द्र मिश्र : लेखनी बेला, पृष्ठ १३६
७. डॉ. ओम प्रभाकर : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ७२
८. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ६०
९. भव्य भारती : नवगीत शिखर-१९९९, पृष्ठ २८
१०. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २५७
११. वही, पृष्ठ १५५
१२. नवीन प्रकाश सिंह 'नवीन' : भव्य भारती - नवगीत शिखर : १९९९, पृष्ठ ४२
१३. अनूप अशेष : वही, पृष्ठ ३४
१४. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' : सार्थक (अक्टूबर १९९९), पृष्ठ २०
१५. कुंअर बेचैन : मधुमती - अप्रैल १९९८, पृष्ठ ७४
१६. डॉ. विष्णु विराट : भव्य भारती - नवगीत शिखर (१९९९) : सम्पादकीय
१७. अरविन्द सोरल : वही, पृष्ठ २०
१८. डॉ. विनोद निगम : वही, पृष्ठ ३२
१९. डॉ. विष्णु विराट : धूम्रवन से लौटते हुए, पृष्ठ ३३
२०. रमेश गौतम : भव्य भारती - नवगीत शिखर (१९९९), पृष्ठ ३९
२१. शिवबहादुरसिंह भदौरिया : नये-पुराने, गीत अंक-४ (१९९९), पृष्ठ ७३
२२. दिनेश सिंह : वही, पृष्ठ १९
२३. वही, पृष्ठ ८
२४. सोमठाकुर : एक ऋचा पाटल की, पृष्ठ ८३
२५. वही, पृष्ठ ४३
२६. नीलम श्रीवास्तव : नये-पुराने, सितम्बर-१९९८, पृष्ठ १७०
२७. किसन सरोज : भव्य भारती-नवगीत शिखर (१९९९), पृष्ठ २८
२८. डॉ. राम दरश मिश्र : वही, पृष्ठ १७
२९. बुद्धिनाथ मिश्र : नवगीत दशक -३, पृष्ठ १०३
३०. विजय किशोर : वही, पृष्ठ ७१
३१. दुष्यन्त कुमार : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १२१
३२. श्याम सुन्दर दुबे : वही, २५८

३३. वही, पृष्ठ २५६
३४. यश मालवीय : भव्य-भारती, नवगीत शिखर (१९९९), पृष्ठ २७
३५. सुधांशु उपाध्याय : नवगीत दशक-३, पृष्ठ ५६
३६. हृदय चौरसिया : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ३०२
३७. अखिलेश कुमार सिंह : नवगीत दशक-३, पृष्ठ २६
३८. गुलाबसिंह : नवगीत दशक-२, पृष्ठ १०३
३९. कुँअर बेचैन : भीतर सांकल बाहर सांकल, पृष्ठ १७
४०. रमेश 'रंजक' : हरापन नहीं टूटेगा, पृष्ठ २८
४१. देवनागर, जुलाई-सितम्बर १९७८, पृष्ठ ४०
४२. कुमार शिव : नवगीत दशक-२, पृष्ठ २४
४३. वही, पृष्ठ २५
४४. प्रेम तिवारी : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १५४
४५. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १२६
४६. नवगीत दशक-२, पृष्ठ १२१
४७. माहेश्वर तिवारी : भव्य-भारती-नवगीत शिखर (१९९९), पृष्ठ ४३
४८. अनूप अशेष : लौट आयेंगे सगुन पंछी, पृष्ठ ३४
४९. श्रीकृष्ण शर्मा : आजकल, जुलाई १९७८
५०. दिनेश सिंह : नवगीत दशक-३, पृष्ठ १२१
५१. डॉ. रामदरश मिश्र
५२. सूर्य भानु गुप्त : रविवार, ३ दिसम्बर १९७८
५३. सुबह रक्त पलाश की, पृष्ठ ३५
५४. नवनीत, अप्रैल १९८३
५५. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २२ जुलाई १९७९
५६. नवगीत दशक-२, पृष्ठ ३९
५७. धर्मयुग-अंक : अगस्त १९८४, पृष्ठ ३३
५८. नागार्जुन : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १४५
५९. नवगीत दशक-२, पृष्ठ ४४
६०. मेंहदी और महावर, पृष्ठ ३०
६१. चिन्तामणि भाग-१
६२. भव्य-भारती : नवगीत शिखर - १९९९, पृष्ठ २२
६३. डॉ. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत-संवेदना और शिल्प, पृष्ठ २४७
६४. उमाकान्त मालवीय : एक चावल नेह रींधा, पृष्ठ १८-१९